

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

नियमसार गाथा १८५

यह गाथा नियम और उसके फल के उपसंहार की गाथा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णियमं णियमस्स फलं णिद्धिदं पवयणस्स भत्तीए।

पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयणहा ॥१८५॥

(हरिगीत)

नियम एवं नियमफल को कहा प्रवचनभक्ति से।

यदी विरोध दिखे कहीं समयज्ञ संशोधन करें ॥१८५॥

प्रवचन की भक्ति से यहाँ नियम और नियम का फल दिखाये गये हैं। यदि इसमें कुछ पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता उसे दूर कर पूर्ति करें।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह इस नियमसार शास्त्र के आरंभ में लिये नियम शब्द और उसके फल का उपसंहार है।

पहिले तो नियम शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यान के रूप में प्रतिपादित किया गया और उसका फल निर्वाण के रूप में प्रतिपादित किया गया। यह सब कवित्व के अभिमान से नहीं किया गया; किन्तु प्रवचन की भक्ति से किया गया है। यदि इसमें कुछ पूर्वापर दोष हो तो आत्मा के जानकार परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप करके उत्तम पद नियोजित करें।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मोक्षमार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और उसका फल परमनिर्वाण अर्थात् मोक्ष है। ऐसे मोक्षमार्ग का और मोक्ष का वर्णन श्री जिनेन्द्रदेव की वाणी में आया है और गणधरदेवों ने उसे कहा है। उस प्रवचन के प्रति भक्ति से मैंने इस शास्त्र में मोक्षमार्ग और मोक्ष का वर्णन किया है। आचार्यदेव ने कोई कविपने के अभिमान से यह रचना नहीं की है; परन्तु प्रवचन सम्बन्धी भक्ति से ही रचना की है। उसमें कुछ व्याकरणादि

की भूल हो तो उसे सुधार लेना। मूलभूत तत्त्व में तो भूल है ही नहीं।^१”

उपसंहार की इस गाथा व उसकी टीका में कहा गया है कि मैंने शुद्ध रत्नत्रयरूप नियम और मुक्तिरूप उसका फल का निरूपण जिनागम की भक्ति से किया है। इसमें कहीं कोई पूर्वापर विरोध दिखाई दे तो आत्म स्वरूप के जानकार इसमें उचित संशोधन अवश्य करें।

भाव में तो कोई गलती होने की संभावना नहीं है; यदि शब्दादि प्रयोगों में कुछ कमी रह गई हो तो उसकी पूर्ति का अनुरोध परम्परानुसार आचार्यदेव ने किया है ॥१८५॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां

हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।

प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः

स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

(रोला)

नियमसार अर तत्फल यह उत्तम पुरुषों के।

हृदय कमल में शोभित है प्रवचन भक्ति से ॥

सूत्रकार ने इसकी जो अद्भुत रचना की।

भक्तिकजनों के लिए एक मुक्तिमार्ग है ॥३०५॥

निवृत्ति (मुक्ति) का कारण होने से यह नियमसार और उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवंत है। प्रवचन भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है, वह वस्तुतः समस्त भव्यसमूह को निर्वाण का मार्ग है।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि मुक्ति का कारण होने से यह रत्नत्रयरूप धर्म और नियमसार नामक शास्त्र तथा उसका मुक्तिरूप फल सभी उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में जयवंत रहे। सूत्रकार अर्थात् गाथायें लिखनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने परमागम की भक्ति से यह शास्त्र लिखा है। उनका इसमें कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, स्वार्थ नहीं है। यह शास्त्र सभी भव्यजीवों के लिए मुक्ति का मार्ग दिखानेवाला है। अतः सभी भव्यजीवों को इसका सच्चे दिल से पठन-पाठन करना चाहिए ॥३०५॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५३६

नियमसार गाथा १८६

उपसंहार की विगत गाथा के उपरान्त लिखी जानेवाली इस गाथा में यह अनुरोध किया जा रहा है कि निन्दकों की बात पर ध्यान देकर इसके अध्ययन से विरक्त मत हो जाना।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मगं।

तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

(हरिगीत)

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।

छोड़ो न भक्ति वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ॥१८६॥

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दरमार्ग की निन्दा करता है तो उसके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ भव्यजीवों को शिक्षा दी है। यदि कोई मंदबुद्धि त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाले, निर्विकल्प, निजकारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्मोदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र परायण वर्तते हुए ईर्ष्याभाव से/मत्सरयुक्त परिणाम से पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है - ऐसे भेदोपचार रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतरागदेव के इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं तो उन स्वरूप विकल लोगों के कुत्सित हेतु और खोटे उदाहरणों से युक्त कुतर्क वचनों को सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति हे भव्यजीवो! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति करना ही कर्तव्य है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अहो! यह अलौकिक निर्ग्रन्थ मार्ग है। कोई उसकी ईर्ष्या से निन्दा करता है तो उसके सामने देखना ही नहीं। वीतरागमार्ग के प्रति अपनी भक्ति बनाये रखना। जिसप्रकार बच्चे को शिक्षा देते हैं; उसीप्रकार कुन्दकुन्द भगवान भव्यजीव को शिक्षा

देते हैं कि हे भव्य! तुम ध्यान रखना। जो यह मोक्ष का मार्ग कहा है, उसके अलावा अन्य कोई मोक्ष का मार्ग जगत में नहीं है। अहो! ऐसा स्पष्ट है मोक्षमार्ग। फिर भी जगत के जीव उसे क्यों नहीं मानते और ईर्ष्या से उसकी निन्दा क्यों करते हैं?

जगत के जीव निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की निन्दा करते हैं तो तू उनके सामने देखकर भटकना नहीं; परन्तु तू अपने आत्मा में निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की भक्ति टिकाकर मोक्षमार्ग साधना - इसप्रकार आचार्य भगवान ने भव्यजीवों को शिक्षा दी है।

इस नियमसार ग्रन्थ में आचार्यदेव ने मोक्षमार्ग और मोक्ष का बहुत अलौकिक वर्णन किया है। अन्त में वे भव्यजीवों को शिक्षा देते हैं कि अहो! शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है। ऐसी वीतरागी मोक्षमार्ग को नहीं समझनेवाला जीव ईर्ष्या से उसकी निन्दा करता है तो उसे सुनकर धर्मात्मा जीवों को जिनमार्ग में अभक्ति नहीं करना चाहिए; क्योंकि जिनमार्ग की श्रद्धा ही कर्तव्य है।^१

देखो ! मोक्षमार्ग कहो, स्वभाव का अवलंबन कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, शुद्धरत्नत्रय कहो, जैनमार्ग कहो - नाम भले ही कुछ भी दो; पर इसकी प्राप्ति का एक ही उपाय है और वह उपाय है अपने त्रिकाली कारणपरमात्मा का आश्रय करके उसकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करना। यही मोक्षमार्ग है।^२

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से आचार्यदेव एवं टीकाकार मुनिराज कह रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! इस जगत में ऐसे अज्ञानियों की कमी नहीं है कि जो ईर्ष्याभाव के कारण एकदम सच्चे रत्नत्रयरूप धर्म की निन्दा करते देखे जाते हैं; उनके भड़कावे में आकर, उनके मुख से इस पवित्रमार्ग की निन्दा सुनकर बिना विचार किये इस पवित्र मार्ग से च्युत नहीं हो जाना; अन्यथा तुम्हें भव-भव में भटक कर अनंत दुःख उठाने पड़ेंगे। सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को आचार्यदेव के उक्त करुणा से सने वचनों पर ध्यान देना चाहिए, उनकी शिक्षा का पूरी तरह से पालन करना चाहिए ॥१८६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५३९

२. वही, पृष्ठ १५४१

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने^१।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥३०६॥

(हरिगीत)

देहपादपव्यूह से भयप्रद बसें वनचर पशु।
कालरूपी अग्नि सबको दहे सूखे बुद्धिजल ॥
अत्यन्त दुर्गम कुनयरूपी मार्ग में भटकन बहुत।
इस भयंकर वन विषै है जैनदर्शन इक शरण ॥३०६॥

देहरूपी वृक्षों की पंक्ति की व्यूहरचना से भयंकर, दुःखों की पंक्ति रूपी जंगली पशुओं का आवास, अति करालकालरूपी अग्नि जहाँ सबको सुखाती है, जलाती है और जो दर्शनमोह युक्त जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है; उस जन्मरूपी भयंकर जंगल के विकट संकट में जैनदर्शन ही एक शरण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“संसार में राजा और रंक दोनों दुःखी हैं। स्वर्ग के देव भी आकुलता से दुःखी हैं। निर्धन दीनता से दुःखी हैं और धनवान अभिमान से दुःखी हैं। जहाँ पूरी दुनिया आकुलता से दुःखी है; वहाँ आत्मा का भान करके उसमें लीन रहनेवाले संत सदा सुखी हैं।^२

इन्द्र का इन्द्रासन छूट गया। चक्रवर्ती का राज चला गया। भरतक्षेत्र में तीर्थकरों का समवशरण था, वह समवशरण बिखर गया। तीर्थकर की देह के परमाणु बिखर गये। इस भरतक्षेत्र में समवशरण में महावीर परमात्मा विराजे थे। तब धर्म का उद्घोष होता था। साक्षात् गणधरदेव विराजमान थे। इन्द्र आकर भगवान के चरण की पूजा करते थे। ऐसा समवशरण भी आज इस क्षेत्र में नहीं दिखाई देता है। इसप्रकार काल सभी को कवल (कौर) की तरह ग्रस लेता है। ऐसे इस संसारवन में एक जैनदर्शन ही शरण है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही शरण है।^३

१. यहाँ कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५४७

३. वही, पृष्ठ १५४८

जिसप्रकार भूल-भूलैया में अज्ञानी को मार्ग नहीं मिलता है; उसीप्रकार इस घोर संसार में अनेक कुनयरूपी मार्ग हैं। उनमें मोक्ष का मार्ग खोजना अज्ञानी जीवों को अत्यन्त दुर्गम है।^१

अतः मुनिराज कहते हैं कि अरे जीव! यदि तुझे विकट संसार में से पार उतरना हो तो एक जैनदर्शन की शरण गहो, जैनदर्शन को समझाने वाले संतों की शरण गहो। सत्समागम में अपनी योग्यता से आत्मस्वभाव को समझकर उसकी शरण लेना ही संसारसागर से पार उतरने का उपाय है।^२”

जिसप्रकार गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से भव्य जीवों को संबोधित किया गया है; उसीप्रकार इस छन्द में भी अत्यन्त करुणापूर्वक समझाया जा रहा है कि इस दुःखों के घर संसार में एकमात्र जैनदर्शन शरणभूत है; क्योंकि सच्चा वीतरागी मार्ग जैनदर्शन में ही है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।।३०६।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

(हरिगीत)

सम्पूर्ण पृथ्वी को कंपाया शंखध्वनि से आपने ।
सम्पूर्ण लोकालोक है प्रभु निकेतन तन आपका ॥
हे योगि! किस नर देव में क्षमता करे जो स्तवन ।
अती उत्सुक भक्ति से मैं कर रहा हूँ स्तवन ॥३०७॥

जिन प्रभु का ज्ञानरूपी शरीर लोकालोक का निकेतन है; जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कंपा दिया था; उन नेमिनाथ तीर्थेश्वर का स्तवन करने में तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? फिर भी उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण उनके प्रति अति उत्सुक भक्ति ही है - ऐसा मैं जानता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५४८

२. वही, पृष्ठ १५५०

“मुनिराज कहते हैं कि हे नाथ! हमें आत्मा का भान हुआ है और आपकी सम्यक् पहचान हुई है; अतः आपके प्रति भक्ति का प्रमोद और उत्साह आये बिना नहीं रहता है। भगवान के ज्ञानशरीर में लोकालोक बसते हैं अर्थात् भगवान सदा लोकालोक के ज्ञायक हैं।

जिन्होंने गृहस्थदशा में शंख की ध्वनि से सम्पूर्ण पृथ्वी को गुंजाया था और बाद में जो सर्वज्ञ हुए, ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान के स्तवन में इस जगत में कौन मनुष्य या देव समर्थ है।^१

भगवान नेमिनाथ प्रभु श्रीकृष्ण के भाई थे। एकबार नेमिनाथ भगवान ने श्रीकृष्ण की रानी सत्यभामा से वस्त्र धोने के लिए कहा। तब रानी ने कहा कि श्रीकृष्ण जैसा मेरा स्वामी और तुम मुझसे वस्त्र धोने के लिए कह रहे हो? तुममें श्रीकृष्ण जैसा बल कहाँ है ?

तब श्री नेमिनाथ भगवान श्रीकृष्ण की नागशय्या में सो गये और उनका शंख लेकर ध्वनि करने लगे। उस शंख की ध्वनि सुनते ही धरती काँप उठी थी। भाई ! गृहस्थपने में ही उनके ऐसा अचिन्त्य बल था। बाद में शादी के प्रसंग में वैराग्य पाकर मुनि हुए और केवलज्ञान प्राप्त किया।

अहो ! ऐसे सर्वज्ञनाथ भगवान की स्तुति तीन लोक में कौन कर सकता है; तथापि हे नाथ! हमें तुम्हारी भक्ति करने का विकल्प एवं उत्सुकता बनी रहती है। परन्तु हे नाथ! यह विकल्प भी तोड़कर स्वरूप में ठहरूँगा, तभी आपके जैसा केवलज्ञान प्राप्त होगा।^२”

उक्त छन्द में नेमिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जिन्होंने गृहस्थावस्था में शंखध्वनि से सबको कंपा दिया था और सर्वज्ञ दशा में जिनके ज्ञान में लोकालोक समाहित हो गये थे; उन नेमिनाथ की स्तुति कौन कर सकता है; पर मैं जो कर रहा हूँ, वह तो एकमात्र उनके प्रति अगाध भक्ति का ही परिणाम है।।३०७।।

नियमसार गाथा १८७

नियमसार की इस अन्तिम गाथा में यह कहा गया है कि मैंने यह नियमसार नामक ग्रंथ स्वयं की अध्यात्म भावना के पोषण के लिए लिखा है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५०

२. वही, पृष्ठ १५५१

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥
(हरिगीत)

जान जिनवरदेव के निर्दोष इस उपदेश को ।

निज भावना के निमित्त मैंने किया है इस ग्रंथ को ॥१८७॥

जिनेन्द्रदेव के पूर्वापर दोष रहित उपदेश को भलीभाँति जानकर यह नियमसार नामक शास्त्र मेरे द्वारा अपनी भावना के निमित्त से किया गया है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार संबंधी कथन है ।

यहाँ आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव प्रारंभ किये गये कार्य के अन्त को प्राप्त हो जाने से अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं कि सैंकड़ों परम-अध्यात्मशास्त्रों में कुशल मेरे द्वारा अशुभ भावों से बचने के लिए अपनी भावना के निमित्त से यह नियमसार नामक शास्त्र किया गया है ।

क्या करके यह शास्त्र किया गया है ?

अवंचक परमगुरु के प्रसाद से पहले अच्छी तरह जानकर यह शास्त्र लिखा गया है ।

क्या जानकर ?

जिनोपदेश को जानकर । वीतराग-सर्वज्ञ भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को जानकर यह शास्त्र लिखा है ।

कैसा है यह उपदेश ?

पूर्वापर दोष से रहित है । पूर्वापरदोष के हेतुभूत सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव से जिन्होंने आप्तता प्राप्त की है; उनके मुख से निकला होने से वह जिनोपदेश पूर्णतः निर्दोष है ।

दूसरी बात यह है कि वस्तुतः समस्त आगम के अर्थ को सार्थकता पूर्वक प्रतिपादन करने में समर्थ, नियम शब्द से संसूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग, पंचास्तिकाय के प्रतिपादन में समर्थ, पंचाचार के विस्तृत प्रतिपादन से संचित, छह द्रव्यों से विचित्र, सात और नौ पदार्थों का निरूपण है गर्भ में जिसके, पाँच भावों के विस्तृत प्रतिपादन में परायण, निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परमालोचना, नियम, व्युत्सर्ग

आदि सभी परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध, तीन उपयोगों के कथन से सम्पन्न - ऐसे इस परमेश्वरकथित नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से निरूपित किया जाता है - सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य ।

सूत्रतात्पर्य तो गाथारूप पद्य कथन के माध्यम से प्रत्येक गाथा सूत्र में यथास्थान प्रतिपादित किया गया है और अब शास्त्र तात्पर्य यहाँ टीका में प्रतिपादित किया जा रहा है; जो इसप्रकार है -

यह नियमसार शास्त्र भागवत शास्त्र है, भगवान द्वारा प्रतिपादित शास्त्र है । जो महापुरुष; निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागात्मक, अव्याबाध, निरन्तर अतीन्द्रिय परमानन्द देनेवाले; निरतिशय, नित्य शुद्ध, निरंजन, निज कारणपरमात्म की भावना के कारण; समस्त नय समूह से शोभित, पंचमगति के हेतुभूत, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी निर्ग्रन्थ मुनिवर से रचित इस नियमसार नामक भागवत शास्त्र को निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं; वे महापुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्याभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच के त्यागी, त्रिकाल, निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचार कल्पना निरपेक्ष स्वस्थ रत्नत्रय में परायण होकर वर्तते हुए शब्द ब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं ।”

पूज्य स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महामुनि निर्ग्रन्थ संत थे । छठवें-सातवें गुणस्थान के आत्मा के आनन्द में वर्तते थे ।^१

टीकाकार कहते हैं कि यह शास्त्र भागवत शास्त्र है, दैवीयशास्त्र है, पारमेश्वर शास्त्र है; भगवान का किया हुआ भागवत है । ऐसे शास्त्र को अपने आत्मा की निज भावना के लिए रचा है । दूसरे जीवों को समझाने की मुख्यता से यह शास्त्र नहीं रचा है ।^२

वे आगे कहते हैं कि वीतरागी गुरु के प्रसाद से जिनेन्द्रदेव के उपदेश को जानकर मैंने यह शास्त्र बनाया है । ऐसा कहकर आचार्यदेव मूलरूप से सर्वज्ञदेव की परम्परा की घोषणा कर रहे हैं ।^३

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५४

२. वही, पृष्ठ १५५४-१५५५

३. वही, पृष्ठ १५५५

क्रियाकाण्ड अर्थात् क्रियाओं का समूह। जो शरीरादि की क्रियायें होती हैं, वे जड़क्रियाकाण्ड हैं। वे आत्मा के धर्म की अथवा पुण्य-पाप की कारण नहीं हैं। आत्मा में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विकारी क्रियाकाण्ड है; उससे धर्म नहीं होता है; परन्तु वह बंध का कारण है। आत्मा के परमस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, निश्चय प्रत्याख्यान आदि वीतरागी क्रिया प्रगट होती है, वह धर्म का क्रियाकाण्ड है, वह मोक्ष का कारण है। इस परमार्थ क्रियाकाण्ड का इस शास्त्र में बहुत वर्णन किया है। तथा शुभ-अशुभ तथा शुद्ध - ऐसे तीन प्रकार के उपयोग का वर्णन भी इसमें आ जाता है। इन तीनों में शुद्धोपयोग आत्मा के केवलज्ञान का कारण हैं।^१

तथा यह शास्त्र समस्त नयों के समूह से शोभित है। निश्चय और व्यवहार नयों का इसमें अनेक भेदों से कथन किया गया है।

आचार्यदेव ने १८७ गाथाओं में बहुत मर्म भर दिया है। १+८+७ = १६ होता है। इसप्रकार इस शास्त्र में सोलह आने परिपूर्ण बात आ गई है।^३

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में कहा गया है कि यह शास्त्र मैंने अपनी भावना की पुष्टि के निमित्त से बनाया है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं प्रतिदिन इस ग्रन्थ का पाठ करते थे। वे कहते हैं कि मैंने तो यह शास्त्र अपनी कल्पना से नहीं बनाया है; पूर्वापर दोष से रहित जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार बनाया है। अतः यह पूर्णतः निर्दोष शास्त्र है।

इस गाथा की टीका में टीकाकार किंच कहकर अनेक विशेषण लगाकर कहते हैं कि इस नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से जाना जा सकता है - सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य।

सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में बता दिया गया है और शास्त्रतात्पर्य शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

इस अंश की विशेषता यह है कि इसके पूर्वार्ध में तो सभी अधिकारों में प्रतिपादित वस्तु का संक्षेप में उल्लेख किया गया है और उत्तरार्ध में नियमसार शास्त्र की महिमा के साथ इसके अध्ययन का फल भी बता दिया गया है। हम सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों का कर्तव्य है कि इसका स्वाध्याय अत्यन्त भक्तिभाव से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५५

२. वही, पृष्ठ १५५८-१५५९

३. वही, पृष्ठ १५६०

गहराई से अवश्य करें ॥१८७॥

इसप्रकार इस नियमसार शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका की पूर्णाहुति करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चार छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत् ।

निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

(हरिगीत)

सुकविजन पंकजविकासी रवि मुनिवर देव ने ।

ललित सूत्रों में रचा इस परमपावन शास्त्र को ॥

निज हृदय में धारण करे जो विशुद्ध आत्मकांक्षी ।

वह परमश्री वल्लभा का अती वल्लभ लोक में ॥३०८॥

सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देने, विकसित करनेवाले सूर्य श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव के द्वारा ललित पद समूहों में रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध आत्मा का आकांक्षी जीव निज मन में धारण करता है; वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से मोक्षमार्ग होता है और उसका फल मोक्ष है। उन दोनों का वर्णन आचार्यदेव ने किया है और कहा है कि इस शास्त्र का फल परमानन्दमय मोक्षदशा की प्राप्ति होना है।^१

भगवान कुन्दकुन्ददेव ने इस शास्त्र में अन्तर के ज्ञायकस्वभाव को बताया है। उस शुद्धात्मस्वभाव को समझकर जो जीव हृदय में धारण करता है अर्थात् उसकी पहचान करके उसमें लीन होता है; वह जीव अपनी मोक्षपरिणति का स्वामी होता है। उस मोक्षपरिणति का उसे कभी विरह नहीं होता है।^२

अर्थात् द्रव्य को अपनी शुद्ध पर्याय का कभी वियोग नहीं होता है। ऐसी मोक्षदशा की प्राप्ति - इस शास्त्र का फल है।^३”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५६१-१५६२

२. वही, पृष्ठ १५६२

३. वही, पृष्ठ १५६३

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि इस परमपावन शास्त्र में प्रतिपादित मर्म को अपने चित्त में धारण करनेवाले आत्मार्थियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभिधानोद्घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।

उपन्यासोर्भिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥

(हरिगीत)

पद्मप्रभमलधारि नामक विरागी मुनिदेव ने।

अति भावना से भावमय टीका रची मनमोहनी ॥

पद्मसागरोत्पन्न यह है उर्मियों की माल जो।

कण्ठाभरण यह नित रहे सज्जनजनों के चित्त में ॥३०९॥

पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली यह उर्मिमाला-लहरों की माला-कथनी सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रही।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिसप्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उछलती हैं; उसीप्रकार यह शास्त्र नियमसार पढकर मेरे मनरूपी समुद्र में उसकी टीका लिखने के भाव उछलते हैं; अतः मैंने यह टीका लिखी है। मेरी एकमात्र भावना यह है कि इससे लाभ लेनेवाले आत्मार्थी सत्पुरुषों के हृदय में यह सदा स्थित रहे ॥३०९॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।

लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

(दोहा)

यदि इसमें कोई पद लगे लक्षण शास्त्र विरुद्ध।

भद्रकवि रखना वहाँ उत्तम पद अविरुद्ध ॥३१०॥

यदि इस टीका में कोई पद लक्षणशास्त्र के विरुद्ध हो तो भद्र कविगण उसका लोप करके उसके स्थान पर उत्तमपद रख दें - ऐसा मेरा अनुरोध है।

ध्यान रहे यहाँ टीकाकार मुनिराज भाव की भूल स्वीकार नहीं कर रहे हैं; क्योंकि उन्हें पक्का भरोसा है कि उनकी लेखनी से भाव संबंधी भूल तो हो ही नहीं सकती। उनका तो मात्र इतना ही कहना है कि किसी छन्द में छन्द शास्त्र के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष उसे सुधार लें ॥३१०॥

चौथा छन्द इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे

तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबम् ।

तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः

स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

(हरिगीत)

तारागण से मण्डित शोभे नील गगन में।

अरे पूर्णिमा चन्द्र चाँदनी जबतक नभ में ॥

हेयवृत्ति नाशक यह टीका तबतक शोभे।

नित निज में रत सत्पुरुषों के हृदय कमल में ॥३११॥

जबतक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब सुन्दर आकाश में शोभायमान रहे; तबतक यह हेयवृत्तियों को निरस्त करनेवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहे।

यह मंगल आशीर्वादात्मक अंतमंगल है; जिसमें यावद् चन्द्रदिवाकरो की शैली में यह कहा गया है कि जबतक आकाश में चन्द्रमा रहे तबतक अर्थात् अनंतकाल तक यह टीका सज्जनों के हृदय कमल में विराजमान रहे ॥३११॥

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि इसप्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धोपयोगाधिकार नामक बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

(पृष्ठ 22 का शेष ...)

(२) तथा कोई जीव ऐसा माने कि व्यवहार में राग-द्वेषादि के भेद हैं, इसलिए निश्चय-स्वभाव में भी भेद पड़ते हैं और निश्चयनय के अभेद विषय में भी भेद पड़ते हैं तो यह भी खोटी मान्यता है, उसे भी कोई नय नहीं है। व्यवहार से पर्याय में भेद होने पर भी निश्चय में भेद नहीं है - ऐसा अनेकान्त है। संसारीजीव सिद्ध समान हैं - ऐसा कहकर पर्यायदृष्टि हटाकर द्रव्यदृष्टि करानी है, क्योंकि विकारी पर्याय अथवा अपूर्ण पर्याय में से धर्म पर्याय प्रकट होती नहीं, वह तो शुद्धस्वभाव के आधार से ही प्रकट होती है।